।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अध्याय सोलह के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा कि काम, क्रोध और लोभ के त्यागने पर ही कर्म आरम्भ होता है, जिसे मैंने बार-बार कहा है। नियतकर्म को बिना किये न सुख, न सिद्धि और न परमगति ही मिलती है। इसलिये अब तुम्हारे लिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में कि क्या करूँ, क्या न करूँ? - इस सम्बन्ध में शास्त्र ही प्रमाण है। कोई अन्य शास्त्र नहीं; बल्कि **''इति गुह्यतमं शास्त्रमिदम्।''** (१५/२०) गीता स्वयं शास्त्र है। अन्य शास्त्र भी हैं; किन्तु यहाँ इसी गीता शास्त्र पर दृष्टि रखें, दूसरा न ढूँढ़ने लगें। दूसरी जगह ढूँढ़ेंगे तो यह क्रमबद्धता नहीं मिलेगी, अतः भटक जायेंगे।

इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि, भगवन्! जो लोग शास्त्रविधि को त्यागकर पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर **'यजन्ते'**- यजन करते हैं, उनकी गति कैसी है? सात्त्विकी है, राजसी अथवा तामसी है? क्योंकि पीछे अर्जुन ने सुना था कि सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी हों, जब तक गुण विद्यमान हैं, किसी-न-किसी योनि के ही कारण होते हैं। इसलिये प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ में ही उसने प्रश्न रखा-

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर श्रद्धासहित यजन करते हैं, उनकी गति कौन-सी है? सात्त्विकी है, राजसी है अथवा तामसी है? यजन में देवता, यक्ष, भूत इत्यादि सभी आ जाते हैं।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

अध्याय दो में योगेश्वर ने बताया था कि, अर्जुन! इस योग में निर्धारित क्रिया एक ही है। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं वाली होती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। दिखावटी शोभायुक्त वाणी में उसे व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिनके चित्त पर पड़ती है, अर्जुन! उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है, न कि कुछ पाते हैं। ठीक इसी की पुनरावृत्ति यहाँ पर भी है कि जो **'शास्त्रविधिमुत्सृज्य'**- शास्त्रविधि को त्यागकर भजते हैं, उनकी श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है।

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, मनुष्य की आदत से उत्पन्न हुई वह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी - ऐसे तीन प्रकार की होती है, उसे तू मुझसे सुन। मनुष्य के हृदय में यह श्रद्धा अविरल है-

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके चित्त की वृत्तियों के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है। प्रायः लोग पूछते हैं - मैं कौन हूँ? कोई कहता है, मैं तो आत्मा हूँ। किन्तु नहीं, यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि जैसी श्रद्धा, जैसी वृत्ति वैसा पुरुष।

गीता योग-दर्शन है। महर्षि पतंजलि भी योगी थे। उनका योग-दर्शन है। योग है क्या? उन्होंने बताया, "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**" (१/२)

चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना योग है। किसी ने परिश्रम करके रोक ही लिया तो लाभ क्या है? "**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**" (१/३) उस समय यह द्रष्टा जीवात्मा अपने ही शाश्वत स्वरूप में स्थित हो जाता है। क्या स्थित होने से पूर्व यह मलिन था? पतंजलि कहते हैं - '**वृत्तिसारूप्यमितरत्र।**' (१/४) दूसरे समय में जैसा वृत्ति का रूप है, वैसा ही वह द्रष्टा है। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं - यह पुरुष श्रद्धामय है, श्रद्धा से ओत-प्रोत। कहीं-न-कहीं श्रद्धा अवश्य होगी और जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। जैसी वृत्ति, वैसा पुरुष। अब तीनों श्रद्धाओं का विभाजन करते हैं-

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

उनमें से सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं तथा अन्य तामस पुरुष प्रेत और भूतों को पूजते हैं। वे पूजन में अथक परिश्रम भी करते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

वे मनुष्य शास्त्रविधि से रहित घोर कल्पित (कल्पित क्रियायें रचकर) तप तपते हैं, दम्भ और अहंकार से युक्त, कामना और आसक्ति के बल से बँधे हुए-

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

वे शरीररूप में स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करनेवाले हैं अर्थात् दुर्बल करनेवाले हैं। आत्मा प्रकृति के दरारों में पड़कर विकारों से दुर्बल और यज्ञ-साधनों से सबल होती है। उन अज्ञानियों (अचेतों) को निश्चय ही तू असुर जान अर्थात् वे सब के सब असुर हैं। प्रश्न पूरा हुआ।

शास्त्रविधि को त्यागकर भजनेवाले सात्त्विक पुरुष देवताओं को, राजस पुरुष यक्ष-राक्षसों को और तामस पुरुष भूत-प्रेतों को पूजते हैं। केवल पूजते ही नहीं, घोर तप तपते हैं; किन्तु अर्जुन! शरीररूप से भूतों को और अन्तर्यामी रूप से स्थित मुझ परमात्मा को दुर्बल करनेवाले हैं, मुझसे दूरी पैदा करते हैं न कि भजते हैं। उनको तू असुर जान अर्थात् देवताओं को पूजनेवाले भी असुर ही हैं। इससे अधिक कोई क्या कहेगा? अतः जिसके ये सभी अंशमात्र हैं, उन मूल एक परमात्मा का भजन करें। इसी पर परम योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बारम्बार बल दिया है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

अर्जुन! जैसे श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, वैसे ही सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार भोजन भी तीन प्रकार का प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके भेद को तू मुझसे सुन। पहले प्रस्तुत है आहार-

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही हृदय को प्रिय लगनेवाले भोज्य पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार, स्वभाव से हृदय को प्रिय लगनेवाला, बल, आरोग्य, बुद्धि और आयु बढ़ानेवाला भोज्य पदार्थ ही सात्त्विक है। जो भोज्य पदार्थ सात्त्विक है, वही सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी खाद्य वस्तु सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी नहीं होती। उसका प्रयोग सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी हुआ करता है। न दूध सात्त्विकी है, न प्याज राजसी और न लहसुन तामसी है।

जहाँ तक बल, बुद्धि, आरोग्य और हृदय को प्रिय लगने का प्रश्न है तो विश्व भर में मनुष्यों को अपनी-अपनी प्रकृति, वातावरण और परिस्थितियों के अनुकूल विभिन्न खाद्य सामग्रियाँ प्रिय होती हैं, जैसे - बंगाली तथा मद्रासियों को चावल प्रिय होता है और पंजाबियों को रोटी। एक ओर तो अरबवासियों को दुम्बा, चीनियों को मेढक तो दूसरी ओर ध्रुव-जैसे ठंडे प्रदेशों में मांस बिना गुजारा नहीं है। रूस और मंगोलिया के आदिवासी खाद्य में घोड़े इस्तेमाल करते हैं, यूरोपवासी गाय तथा सुअर दोनों खाते हैं; फिर भी विद्या, बुद्धि-विकास तथा उन्नति में अमेरिका और यूरोपवासी प्रथम श्रेणी में गिने जा रहे हैं।

गीता के अनुसार रसयुक्त, चिकना और स्थिर रहनेवाला भोज्य पदार्थ सात्त्विक है। लम्बी आयु, अनुकूल, बल-बुद्धि बढ़ानेवाला, आरोग्यवर्द्धक पदार्थ सात्त्विक है। स्वभाव से हृदय को प्रिय लगनेवाला भोज्य पदार्थ सात्त्विक है। अतः कहीं किसी खाद्य पदार्थ को घटाना-बढ़ाना नहीं है। परिस्थिति, परिवेश तथा देशकाल के अनुसार जो भोज्य वस्तु स्वभाव से प्रिय लगे और जीवनी शक्ति प्रदान करे, वही सात्त्विकी है। वस्तु सात्त्विक, राजसी या तामसी नहीं होती, उसका प्रयोग सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी होता है।

इसी अनुकूलन के लिये जो व्यक्ति घर-परिवार त्यागकर केवल ईश्वर आराधन में लिप्त हैं, संन्यास आश्रम में हैं, उनके लिये मांस-मदिरा त्याज्य है; क्योंकि अनुभव से देखा गया है कि ये पदार्थ आध्यात्मिक मार्ग के विपरीत मनोभाव उत्पन्न करते हैं अतः इनसे साधन-पथ से भ्रष्ट होने की अधिक सम्भावना है। जो एकान्त देश का सेवन करनेवाले विरक्त हैं, उनके लिये योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अध्याय छः में आहार के लिये एक नियम दिया कि 'युक्ताहार विहारस्य' इसी को ध्यान में रखकर आचरण करना चाहिये। जो भजन में सहायक है उतना (वही) आहार ग्रहण करना चाहिए।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

कड़वे, खट्टे, अधिक नमकीन, अत्यन्त गर्म, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

जो भोजन देर का बना हुआ है, **'गतरसं'**- रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट (जूठा) और अपवित्र भी है, वह तामस पुरुष को प्रिय होता है। प्रश्न पूरा हुआ। अब प्रस्तुत है 'यज्ञ'-

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

जो यज्ञ **'विधिदृष्ट'**- शास्त्रविधि से निर्धारित किया गया है। (जैसा पीछे अध्याय ३ में यज्ञ का नाम लिया, अध्याय ४ में यज्ञ का स्वरूप बताया कि बहुत से योगी प्राण को अपान में, अपान को प्राण में हवन करते हैं। प्राण-अपान की गति निरोध कर प्राणों की गति स्थिर कर लेते हैं, संयमाग्नि में हवन करते हैं। इस प्रकार यज्ञ के चौदह सोपान बताये, जो सब-के-सब ब्रह्म तक की दूरी तय करा देनेवाली एक ही क्रिया की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। संक्षेप में यज्ञ चिन्तन की प्रक्रिया का चित्रण है, जिसका परिणाम सनातन ब्रह्म में प्रवेश है। जिसका विधान इस शास्त्र में किया गया है।)

उसी शास्त्र-विधान पर पुनः बल देते हैं कि अर्जुन! शास्त्रविधि से नियत किये हुए, जिसे करना ही कर्त्तव्य है तथा जो मन को निरोध करनेवाला है, जो फल को न चाहनेवाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक है।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

हे अर्जुन! जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिए ही हो या फल को उद्देश्य बनाकर किया जाता है, उसे राजस यज्ञ जान। यह कर्त्ता यज्ञ की विधि जानता है; किन्तु दंभाचरण या फल को उद्देश्य बनाकर करता है कि अमुक वस्तु मिलेगी तथा लोग देखें कि यज्ञ करता है, प्रशंसा करेंगे, ऐसा यज्ञकर्त्ता वस्तुतः राजसी है। अब तामस यज्ञ का स्वरूप बताते हैं-

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

जो यज्ञ शास्त्रविधि से रहित है, जो अन्न (परमात्मा) की सृष्टि कर सकने में असमर्थ है, मन के अन्तराल में निरुद्ध करने की क्षमता से रहित है, दक्षिणा अर्थात् सर्वस्व के समर्पण से रहित है तथा जो श्रद्धारहित है, ऐसा यज्ञ तामस यज्ञ कहा जाता है। ऐसा पुरुष वास्तविक यज्ञ को जानता ही नहीं। अब प्रस्तुत है तप-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

परमदेव परमात्मा, द्वैत पर जय प्राप्त करनेवाले द्विज, सद्‌गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है। शरीर सदैव वासनाओं की ओर बहकता है इसे अन्तःकरण की उपर्युक्त वृत्तियों के अनुरूप तपाना शारीरिक तप है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

उद्वेग न पैदा करनेवाला, प्रिय, हितकारक और सत्य भाषण तथा परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाले शास्त्रों के चिन्तन का अभ्यास, नाम-जप यह वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है। वाणी विषयोन्मुख विचारों को भी व्यक्त करती रहती है। इसे उस ओर से समेटकर परमसत्य परमात्मा की दिशा में लगाना वाणी-सम्बन्धी तप है। अब मन-सम्बन्धी तप देखें-

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन अर्थात् इष्ट के अतिरिक्त अन्य विषयों का स्मरण भी न हो, मन का निरोध, अन्तःकरण की सर्वथा पवित्रता – यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है। उपर्युक्त तीनों शरीर, वाणी और मन का तप मिलाकर एक सात्त्विक तप है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

फल को न चाहते हुए अर्थात् निष्काम कर्म से युक्त पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उपर्युक्त तीनों तपों को मिलाकर सात्त्विक तप कहते हैं। अब प्रस्तुत है राजस तप–

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये अथवा केवल पाखण्ड से ही किया जाता है, वह अनिश्चित एवं चंचल फलवाला तप राजस कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

जो तप मूर्खतापूर्वक हठ से मन, वाणी और शरीर के पीड़ासहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये बदले की भावना से किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

इस प्रकार सात्त्विक तप में शरीर, मन और वाणी को मात्र इष्ट के अनुरूप ढालना है। राजस तप में तप की क्रिया वही है; किन्तु दम्भमान सम्मान की इच्छा से तपते हैं। प्रायः महात्मा लोग घर-बार छोड़ने के बाद भी इस विकार के शिकार हो जाते हैं और तीसरा तामस तप अविधिपूर्वक होता है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के दृष्टिकोण से होता है। अब प्रस्तुत है दान–

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

दान देना ही कर्त्तव्य है – इस भाव से जो दान देश (स्थान), काल (समयानुकूल) और सत्यपात्र के प्राप्त होने पर बदले में उपकार की भावना से रहित होकर दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

जो दान क्लेशपूर्वक (जो देते नहीं बनता लेकिन देना पड़ रहा है) तथा प्रत्युपकार की भावना से कि यह करूँगा तो यह मिलेगा अथवा फल को उद्देश्य बनाकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक झिड़ककर अयोग्य देश-काल में अनाधिकारियों को दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है। 'पूज्य महाराज जी' कहा करते थे – 'हो, कुपात्र को दान देने से दाता नष्ट हो जाता है।' ठीक इसी प्रकार श्रीकृष्ण का कहना है कि दान देना ही कर्त्तव्य है। देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर बदले में उपकार न चाहने की भावना से उदारता के साथ दिया जानेवाला दान सात्त्विक है। कठिनाई से निकलनेवाला, बदले में फल की भावना से दिया जानेवाला दान राजस है और बिना सत्कार के झिड़कियों के साथ प्रतिकूल देश-काल में कुपात्र को दिया जानेवाला दान तामस है, लेकिन है दान ही; किन्तु जो देह-गेह इत्यादि सबके ममत्व को त्यागकर एकमात्र इष्ट पर ही निर्भर है, उसके लिए दान का विधान इससे और उन्नत है और वह है सर्वस्व का समर्पण, सम्पूर्ण वासनाओं से हटकर मन का समर्पण, जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है, '**मय्येव मन आधत्स्व।**' अतः दान नितान्त आवश्यक है। अब प्रस्तुत है ॐ, तत् और सत् का स्वरूप–

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

अर्जुन! ॐ, तत् और सत् - ऐसा तीन प्रकार का नाम **'ब्रह्मणः निर्देशः स्मृतः'**- ब्रह्म का निर्देश करता है, स्मृति दिलाता है, संकेत करता है और ब्रह्म का परिचायक है। उसी से **'पुरा'**- पूर्व में (आरम्भ में) ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि रचे गये हैं। अर्थात् ब्राह्मण, यज्ञ और वेद ओम् से पैदा होते हैं। ये योगजन्य हैं। ओम् के सतत चिन्तन से ही इनकी उत्पति है और कोई तरीका नहीं है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

इसलिए ब्रह्म का कथन करनेवाले पुरुषों की शास्त्र-विधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप क्रियाएँ निरन्तर 'ओम्' इस नाम का उच्चारण करके ही की जाती हैं, जिससे उस ब्रह्म का स्मरण हो जाय। अब तत् शब्द का प्रयोग बताते हैं-

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

'तत्' अर्थात् वह (परमात्मा) ही सर्वत्र है, इस भाव से फल को न चाहकर शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट नाना प्रकार की यज्ञ, तप और दान की क्रियाएँ परम कल्याण की इच्छा करनेवाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं। तत् शब्द परमात्मा के प्रति समर्पणसूचक है। अर्थात् जप तो ओम् का कीजिए। यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ उस पर निर्भर होकर करें। अब सत् के प्रयोग का स्थल बताते हैं-

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

और सत्; योगेश्वर ने बताया कि सत् है क्या? गीता के आरम्भ में ही अर्जुन ने प्रश्न खड़ा किया था कि कुलधर्म ही शाश्वत है, सत्य है, तो

श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ? सत् वस्तु का तीनों काल में कभी अभाव नहीं होता, उसे मिटाया नहीं जा सकता और असत् वस्तु का तीनों कालों में अस्तित्व नहीं है, उसे रोका नहीं जा सकता। वस्तुतः वह कौन-सी वस्तु है, जिसका तीनों कालों में अभाव नहीं है? और वह असत् वस्तु है क्या, जिसका अस्तित्व नहीं? तो बताया - यह आत्मा ही सत्य है और भूतादिकों के समस्त शरीर नाशवान् हैं। आत्मा सनातन है, अव्यक्त है, शाश्वत और अमृतस्वरूप है - यही परमसत्य है।

यहाँ कहते हैं, 'सत्' ऐसे परमात्मा का यह नाम **'सद्भावे'**- सत्य के प्रति भाव में और साधुभाव में प्रयोग किया जाता है और हे पार्थ! जब नियत कर्म सांगोपांग भली प्रकार होने लगे, तब सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। सत् का अर्थ यह नहीं है कि यह वस्तुएँ हमारी हैं। जब शरीर ही हमारा नहीं है, तो इसके उपभोग में आनेवाली वस्तुएँ हमारी कब हैं। यह सत् नहीं है। सत् का प्रयोग केवल एक दिशा में किया जाता है - सद्भाव में। आत्मा ही परम सत्य है। इस सत्य के प्रति भाव हो, उसे साधने के लिये साधुभाव हो और उसकी प्राप्ति करानेवाला कर्म प्रशस्त ढंग से होने लगे, वहीं सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी पर योगेश्वर अग्रेतर कहते हैं-

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

यज्ञ, तप और दान को करने में जो स्थिति मिलती है, वह भी सत् है - ऐसा कहा जाता है। **'तदर्थीयम्'**- उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए किया हुआ कर्म ही सत् है, ऐसा कहा जाता है। अर्थात् उस परमात्मा की प्राप्तिवाला कर्म ही सत् है। यज्ञ, दान, तप तो इस कर्म के पूरक हैं। अन्त में निर्णय देते हुए कहते हैं कि इन सबके लिये श्रद्धा आवश्यक है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

हे पार्थ! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह सब असत् है- ऐसा कहा जाता है। वह न तो इस लोक में और न परलोक में ही लाभदायक है। अतः समर्पण के साथ श्रद्धा नितान्त आवश्यक है।

निष्कर्ष–

अध्याय के आरम्भ में ही अर्जुन ने प्रश्न किया कि, भगवन्! जो शास्त्र-विधि को त्यागकर और श्रद्धा से युक्त होकर यजन करते हैं (लोग भूत, भवानी अन्यान्य पूजते ही रहते हैं) तो उनकी श्रद्धा कैसी है? सात्त्विकी है, राजसी है अथवा तामसी? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! यह पुरुष श्रद्धा का स्वरूप (पुतला) है, कहीं-न-कहीं उनकी श्रद्धा होगी ही। जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष। जैसी वृत्ति वैसा पुरुष। उनकी वह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है। सात्त्विकी श्रद्धावाले देवताओं को, राजसी श्रद्धावाले यक्ष (जो यश, शौर्य प्रदान करे), राक्षसों (जो सुरक्षा दे सके) का पीछा करते हैं और तामसी श्रद्धावाले भूत-प्रेतों को पूजते हैं। शास्त्रविधि से रहित इन पूजाओं द्वारा ये तीनों प्रकार के श्रद्धालु शरीर में स्थित भूत समुदाय अर्थात् अपने संकल्पों और हृदय-देश में स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करते हैं, न कि पूजते हैं। उन सबको निश्चय ही तू असुर जान अर्थात् भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस तथा देवताओं को पूजनेवाला असुर है।

देवता-प्रसंग को श्रीकृष्ण ने यहाँ तीसरी बार उठाया है। पहले अध्याय सात में उन्होंने कहा था कि - अर्जुन! कामनाओं ने जिनका ज्ञान हर लिया है, वही मूढ़बुद्धि अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। दूसरी बार अध्याय नौ में उसी प्रश्न को दुहराते हुए कहा- जो अन्यान्य देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी मुझे ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् शास्त्र में निर्धारित विधि से भिन्न है, अतः वह नष्ट हो जाता है। यहाँ अध्याय सत्रह में

उन्हें आसुरी स्वभाव वाला कहकर सम्बोधित किया। श्रीकृष्ण के शब्दों में एक परमात्मा की ही पूजा का विधान है।

तदनन्तर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने चार प्रश्न लिये - आहार, यज्ञ, तप और दान। आहार तीन प्रकार के होते हैं। सात्त्विक पुरुष को तो आरोग्य प्रदान करनेवाले, स्वाभाविक प्रिय लगनेवाले, स्निग्ध आहार प्रिय्र होते हैं। राजस पुरुष को कड़वे, तीक्ष्ण, उष्ण, चटपटे, मसालेदार, रोगवर्द्धक आहार प्रिय होते हैं। तामस पुरुष को जूठा, बासी और अपवित्र आहार प्रिय होते हैं।

शास्त्रविधि से निर्दिष्ट यज्ञ (जो आराधना की अन्तःक्रियाएँ हैं) जो मन का निरोध करता है, फलाकांक्षा से रहित वह यज्ञ सात्त्विक है। दम्भ-प्रदर्शन तथा फल के लिये किया जानेवाला वही यज्ञ राजस है और शास्त्रविधि से रहित, मन्त्र, दान तथा बगैर श्रद्धा से किया हुआ यज्ञ तामस है।

परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाली सारी योग्यताएँ जिनमें हैं, उन प्राज्ञ सद्‌गुरु की अर्चना, सेवा और अन्तःकरण से अहिंसा, ब्रह्मचर्य और पवित्रता के अनुरूप शरीर को तपाना शरीर का तप है। सत्य, प्रिय और हितकर बोलना वाणी का तप है और मन को कर्म में प्रवृत्त रखना, इष्ट के अतिरिक्त विषयों के चिन्तन में मन को मौन रखना मन-सम्बन्धी तप है। मन, वाणी और शरीर तीनों मिलाकर इस ओर तपाना सात्त्विक तप है। राजस तप में कामनाओं के साथ उसी को किया जाता है, जब कि तामस तप शास्त्रविधि से रहित स्वेच्छाचार है।

कर्तव्य मानकर देश, काल और पात्र का विचार करके श्रद्धापूर्वक दिया गया दान सात्त्विक है। किसी लाभ के लोभ में कठिनाई से दिया जानेवाला दान राजस है और झिड़ककर कुपात्र को दिया जानेवाला दान तामस है।

ॐ, तत् और सत् का स्वरूप बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि ये नाम परमात्मा की स्मृति दिलाते हैं। शास्त्रविधि से निर्धारित तप, दान और यज्ञ आरम्भ करने में ओम् का प्रयोग होता है और पूर्ति में ही ओम् पिण्ड

छोड़ता है। तत् का अर्थ है वह परमात्मा, उसके प्रति समर्पित होकर ही वह कर्म होता है और जब कर्म धारावाही होने लगे, तब सत् का प्रयोग होता है। भजन ही सत् है। सत् के प्रति भाव और साधुभाव में ही सत् का प्रयोग किया जाता हैं। परमात्मा की प्राप्ति करा देनेवाले कर्म यज्ञ, दान और तप के परिणाम में भी सत् का प्रयोग है और परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाला कर्म निश्चयपूर्वक सत् है; किन्तु इन सबके साथ श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा से रहित होकर किया हुआ कर्म, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप न इस जन्म में लाभकारी है, न अगले जन्मों में ही। अतः श्रद्धा अपरिहार्य है।

सम्पूर्ण अध्याय में श्रद्धा पर प्रकाश डाला गया और अन्त में ॐ, तत् और सत् की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गयी, जो गीता के श्लोकों में पहली-बार आया है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रय विभाग योग' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।